अङ्क ८ : अगस्त

वर्ष १०

१९६१

राम सन्देश

मासिक पत्रिका



एक प्रति ३८ नये पैसे

वार्षिक मूल्य ४)

श्री रामतीर्थ मिशन, राजपुर (देहरादून)

संस्थापक
ब्रह्मलीन स्वामी हरिॐ जी महाराज

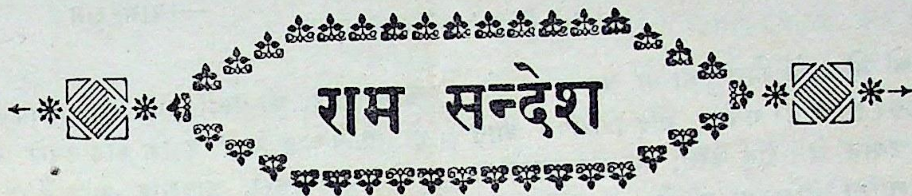
सम्पादक तथा व्यवस्थापक
स्वामी गोविन्दप्रकाश 'वेदान्ताचार्य'

स० सम्पादक
विष्णुदत्त पाण्डेय 'शास्त्री'

विषय-विज्ञान



॥ ॐ ॥
'राष्ट्र के हित के लिये प्रयत्न करना ही विश्व की शक्तियों अर्थात् देवताओं की आराधना है'—स्वामीराम।
वेदान्त, आध्यात्म, संस्कृति, धर्म एवं भक्ति का सजग सन्देशवाहक तथा
स्वामी राम के आदर्शों का एकमात्र लोकप्रिय मासिक—



यद् वेदोपनिषदां तत्त्वं सत्यं नित्यं सनातनम्।
तत्सर्वं "रामसन्देशे" पत्रेऽस्मिन्नवलोक्यताम्॥

वर्ष १०
अङ्क ८

राजपुर-देहरादून, अगस्त १९६१.

वार्षिकभेंट ४)
एक प्रति ।=)

शिव-सङ्कल्प

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥
(यजु० ३४।१)

जो अलौकिक शक्ति वाला मन जागते हुए पुरुष के शरीर से बाहर दूर तक चला जाता है, सोए हुए पुरुष का जो जैसा गया था वैसा ही लौट आता है। जो दूर पहुँचने वाला और इंद्रियों में अद्वितीय इंद्रिय हैं; वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणोयज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥
(यजु० ३४।२)

जिस मन से कर्मशील, बुद्धिमान्, यज्ञ में धैर्यशाली, शूरवीर युद्धों में तथा राज सभाओं में अनेकविध कर्म करते हैं, जो सब प्राणियों के अन्दर अद्भुत पूज्य वस्तु है; वह मेरा मन शुभ संकल्प करे।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥
(यजु०३४।३)

जो मन ज्ञान का उत्तम साधन और चिन्तन (स्मरण) शक्ति वाला है, जिसमें अगाध धैर्य है, जो सब प्राणियों के अन्दर एक अमर ज्योति (प्रकाश) है, जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्प करे।

(क्रमशः)

* ग़ैर मुल्कों के तजुर्बे *

—स्वामी राम

[गतांक से आगे]

उनको जो पहले क्रोध हुआ था, वह बाजा और गीत सुनकर शान्त हो गया। यदि प्रिंसिपल आते ही उनके बयान लेने शुरू करते, तो इस लड़ाई का नतीजा शान्ति में खतम न होता। एक लड़का दूसरे को क़सूरवार ठहराता और अवश्य ही कुछ लड़के क़सूरवार निकलते और संभव था कि इसका नतीजा यह होता कि कुछ लड़के स्कूल से निकाल दिये जाते और जो लड़के स्कूल से निकाल दिये जाते, वे उन लड़कों के हमेशा जानी दुश्मन (घोर शत्रु) हो जाते, उनके विरुद्ध गवाही देते। ख्याल करने से इसका नतीजा बहुत बुरा पैदा हो सकता है। यहाँ तक कि देश में अशान्ति फैल सकती है।

तीसरी बात लड़कों को डराना-धमकाना नहीं चाहिए, लड़कों को डराना और धमकाना बड़ी बुरी बात है। इससे लड़के डरपोक और कमज़ोर हो जाते हैं। हिन्दुस्तान में डराना, धमकाना बुरे लड़कों को नेक बनाने की चेष्टा है, परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है। लड़कों को नेक बनाने के लिये सबसे उम्दा मार्ग यह है कि उनकी नज़रों से कोई ऐसी बुरी बात नहीं गुज़रने देनी चाहिये और बीर तथा पुष्ट बनाने के लिये उनको पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिये। जापान में बालकों को ऐसी स्वतन्त्रता है कि वैसी स्वतन्त्रता कहीं नहीं देखी गई। वहाँ बालकों को कहीं खेलने के लिये मुकर्रर जगह नहीं है। जहाँ उनकी खुशी होती है, वहाँ वे बेरोक-टोक खेलते हैं। चाहे वह आम जगह हो या ख़ास; बाजार हो या गली; जहाँ उनकी मरज़ी हो, वहाँ उनको कोई नहीं रोक सकता है। यहाँ तक कि यदि वे बाजार में खेलते हों और कारणवशात् वहाँ के बादशाह की गाड़ी उधर होके निकलने वाली हो, तो मजाल नहीं है कि कोई उनसे कह दे कि "खेल बन्द करो, बादशाह आते हैं।" जब तक वे स्वयं अपना खेल बन्द नहीं करते, तब तक मिकाडो भी अपनी गाड़ी खड़ी रक्खेंगे। यही कारण है कि जापानियों के दिलों में भय का नाम-निशान भी नहीं है।

चौथी बात यह है कि बालकों को जो कुछ पढ़ाया जाय, वह अमल में भी लाना सिखलाया जाय। हिन्दुस्तान में इस बात की बड़ी कमी है। हिन्दुस्तानी स्कूलों में जो कुछ पढ़ाया जाता है, वह अमल में लाना नहीं सिखाया जाता। इसलिये हिन्दुस्तानी बालक युवा होने पर बातूनी जमा-खर्च तो बहुत कर देते हैं पर असली कार्रवाही कुछ नहीं कर सकते।

पाँचवीं बात यह है कि जिस विषय की ओर बालक प्रवृत्त हो, वही विषय उसको विशेष रूप से पढ़ाया जाय, क्योंकि ऐसा करने से वह अधिक उन्नति कर सकेगा। हिन्दुस्तान में इस मुख्य प्रयोजनीय बात की ओर कोई ध्यान नहीं देता। यदि किसी बालक को वकालत प्रिय है तो उसके माँ-बाप उसको इंजीनियरिंग पढ़ने का अनुरोध करेंगे; यदि गणित-शास्त्र की ओर उसकी रुचि है, तो उसको इतिहास पढ़ने के लिये कहेंगे और यदि उसकी चित्त-वृत्ति साइंस की ओर है, तो उसे साहित्य पढ़ावेंगे। अब यह विचार करने की बात है कि जिस विषय की ओर बालक की रुचि ही नहीं, उस विषय में वह क्योंकर तरक्की कर सकता है। सुतरां बालकों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये। बालकों पर ही देश की भावी भलाई का भरोसा है।

एक बात जो केवल हिन्दुस्तानियों में दूसरे देशों से बढ़ कर अभी तक पाई जाती है, वह योग-विद्या है। पर अब अमेरिका आदि देश इससे खूब उन्नति कर रहे हैं, और हिन्दुस्तानी भूल रहे हैं। अमेरिका में एफ० ऐमरसन साहब ने, जो जंगलों में रहता था, योग-विद्या में इतनी उन्नति की है कि आश्चर्य्य होता है। वह मोहन को बदल कर गोपाल कर सकता है, स्थल को जल; ये सब करामातें वह योग-विद्या से करता है, जादू से नहीं। और अब आशा है कि वे लोग योग-विद्या में भी हिन्दुस्तानियों से बढ़ जायँगे। सो प्यारे हिंदुस्तानियों! आपको संभलना चाहिये। पहले-पहल विद्यारूपी सूर्य का प्रकाश यहीं हुआ था। बाद को यहाँ से अरब, मिस्र, यूनान होता हुआ इंगलैंड पहुँचा था। वहाँ से अमेरिका होता हुआ जापान पहुँचा गया। अब जापान से उसकी किरणें इधर झुकती हुई दिखलाई देती हैं। अब आप सचेत हो जाओ। ऐसा न हो, यह सूर्य पश्चिम को ढलक जाय और आप सोये ही रह जायँ। उठो, और उठाने का प्रयत्न करो। सब अपने-अपने कर्त्तव्यों पर लगो, और अपने देश-वासियों को कर्त्तव्य बतलाओ। सूर्योदय के पूर्व ही अपने देशोन्नति रूपी कर्त्तव्यों को स्थिर कर लो। एक क्षण, एक पल भी व्यर्थ न खोओ। यदि सोच-विचार में ही पड़े रहोगे, तो सूर्य पश्चिम को चला जायगा, फिर आपसे कुछ करते-धरते नहीं बनेगा।



मानव का भ्रातृत्व

अरे! जब हम समझते हैं कि इस दुनिया में सब लोग हमारी आत्मा हैं, तब हमें कितना हर्ष होता है। वह संगीत जो मैंने सुना, मेरा था। अरे! कितना सुख होता है, जब हम समझते हैं कि इस दुनिया में जो लोग अति समृद्ध और लोक प्रसिद्ध हैं, वह सब मैं हूँ। कितना सुख इससे मिलता है। यह अनुभव करने की चेष्टा करो और तुम्हें अपने अभ्यास में इसके स्वाभाविक फल दिखाई पड़ेंगे। जैसे तुम समझते हो कि यह एक शरीर तुम्हारा है, उसी तरह यह समझना और अनुभव करना शुरू करो कि सब शरीर तुम्हारे हैं। यदि तुम एकता के इस तथ्य पर अपने मन और शक्तियों को एकाग्र करो तो तुम देखोगे कि इस दुनिया में सब शरीर ठीक तुम्हारी इच्छाओं के अनुसार बर्तना और चलना-फिरना शुरू कर देंगे। यह परीक्षा सिद्ध तथ्य है। इसमें बिश्वास कीजिये, इसकी जाँच कीजिये। यह कल्पना का विषय नहीं है, यह कोरी बातचीत नहीं है, यह उतना अधिक तथ्य है जितना तुम अपने शरीर को तथ्य कहते हो। यद्यपि यह सर्वथा तथ्य है, फिर भी तर्क के लिये इसे अव्यावहारिक मान लेने पर मनुष्य मात्र की एकता के इस अनुभव से एक सुख तुम्हें अपने भाग में आता तुरन्त दिखाई पड़ेगा।

—स्वामीराम



शील, सन्तोष और शान्ति

भुवनभास्कर भगवान सूर्य के गतागत की भाँति मानव शरीर जब तक चल रहा है, चल रहा है; पर हमें यह निश्चित ही याद रखना होगा कि हमारी आयु दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। मानव ने यह स्वभाव बना लिया है कि वह परलोक-भावना से प्रायः निश्चिन्त सा रहने लगा है। वह आज के कर्त्तव्य को कल कर लेने की आड़ लेकर अपने आपको पर्याप्त बुद्धिमान् तथा संयत सिद्ध करना चाहता है। किन्तु है वह भटका, भ्रमित और भवजाल में पड़ा हुआ। जीव को यदि इस बात का पूरा विश्वास हो जाय कि इस लोक में यावन्मात्र भोग-पदार्थ चंचल विद्युत् के समान हैं, क्षणभंगुर हैं तथा परमार्थ पथ के निरोधक हैं; तब भी इस चिन्तना से व्यक्ति अपना पथ प्रशस्त करके कल्याण का भागी बन सकता, पर इधर तो काम-क्रोध-लोभ और मोह इन चारों ने चारों दिशाओं से घर दबाया है। काम—मनस्ताप और बन्धन का विशिष्ट कारण है, क्रोध—तो काम से भी बढ़कर अनिष्टकारी और धर्म का विघातक है। लोभ-संसार बन्धन में प्रविष्ट कराने वाले महान् जाल के सदृश है, मोह—में पड़ा मानव मूर्च्छित सा हो जाता है, उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सुधि ही नहीं रहती। जब अत्यन्त मोहाभिभूत हो जाता है तब राम ही बचाये तो बचाये; अन्यथा बेड़ा मंझधार में ही समझिये। इन कामादियों से बचने का उपाय है—शील, सन्तोष और शान्ति।

मानव यदि इन्हें धारण करे तो कामादि चारों शत्रुओं का उद्भव ही न होने पावे। जब संसार का सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ क्षणिक तथा विनाशी है तो प्राणी आयुक्षीणता की ओर से निश्चिन्त क्यों है? उस निश्चिन्तता का परिणाम यह है कि आयुरूपी घट से जीवनरूपी जल प्रत्येक क्षण रिक्त होता जा रहा है। कालरूपी आखेटक (शिकारी) जाल लिये पीछे-पीछे चला आ रहा है, किन्तु खेद इस बात का है कि भोग-विलास की वाटिका में विहरण करने वाला विहंग इस ओर से बेखटका है। केवल सुखरूपी मृगतृष्णा में ही मानव वर्षाती वारि की भाँति बहता चला जा रहा है और जब सुख के बदले दुःखोपभोग करना पड़ता है तब छटपटाने लगता है। इन मायिक सुखों को दुःखरूप समझकर ही स्वामीराम प्रभृति ने गृह परित्याग करके वन की शरण ली। कहने का भावार्थ यह है कि हम शीलतादि गुणों को धारण करें तो हमारा व्यवहार तो सुधरेगा ही साथ में परमार्थ की सिद्धि भी हो सकती है।

* प्रवचन *

ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी हरि ॐ जी महाराज

[गतांक से आगे]

अब आप कहेंगे कि पाप क्या वस्तु है ? आपके जीवन में निराशा, सोच-विचार, दुःख, अपमान हो, मुक़दमा और चित्त की बेचैनी का जो अंश वह सब पाप का ही स्वरूप है। जैसे समुद्र के छोटे छोटे जल बिन्दु धीरे धीरे मेघ बन जाते हैं और बड़े ज़ोर से कड़कड़ाते हैं और विद्युत् की ध्वनि पैदा करते हैं, जिसका शब्द सुनकर बच्चे थरथराने लगते हैं और बरामदे से उठकर मनुष्य कमरे के भीतर घुस जाते हैं। मार्ग में चलते हुए यात्री भयत्रस्त होकर स्तब्ध हो जाते हैं। यह वही बुख़ारात हैं जो बादल बनकर वर्षा करते हैं। इसी प्रकार दिन तथा रात्रि में जो छोटे छोटे पाप होते रहते हैं वही शोक, मोह, बीमारी तथा मुकदमे के रूप में गड़गड़ाने लगते हैं। इनके नाश के लिये भजन करना चाहिये। अब आप कहेंगे महाराज ! भजन क्या करना चाहिये। कृपया शीघ्र ही बताइये कि उसका उपाय क्या है; ताकि हमारे पाप कर्म दग्ध हों ?

परमात्मा सामान्यरूप से सर्वत्र परिपूर्ण है, परन्तु इतना जान लेने मात्र से हमारी सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे सामान्य रूप अग्नि से भोजन की सिद्धि नहीं होती। भोजन निर्माण के लिये विशेष रूप से अग्नि प्रज्वलित करनी पड़ती है। इसी प्रकार निराकार ब्रह्म मात्र से हमारी वृत्ति शान्त नहीं हो सकती। यहाँ पर भगवान् वेदव्यास कहते हैं—ब्रह्मवेत्ता गुरु की कृपा रूपी पंखे के चलने से ही जीव का उद्धार होता है। जैसे दो पत्थरों की रगड़ से ही अग्नि उत्पन्न होती है। माता का रज और पिता का वीर्य जब इन दोनों का मिलाप होता है तो तृतीय वस्तु सन्तान की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जिज्ञासु की श्रद्धा और गुरु-कृपा के योग से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यदि स्त्री है और पुरुष नहीं तो सन्तान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि पुरुष है और स्त्री नहीं तो भी सन्तान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि पश्चिम की ओर से बादल आयें और पूर्व की ओर से न आयें तो बिजली उत्पन्न नहीं हो सकती। दो बादलों की आपस में रगड़ होने से ही तृतीय वस्तु बिजली की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जिज्ञासु की श्रद्धा और गुरु की कृपा इन दोनों के टकराने से ही आत्मज्ञान तथा ब्रह्मसाक्षात्कार रूपी तृतीय वस्तु की उत्पत्ति होती है। आदिकाल से ही यह परिपाटी चली आ रही है। तो इसे और भी सिद्ध कीजिये। गुरुदेव का शरीर ही गुरु नहीं है। यदि आप गुरु के नेत्र, उनके सुन्दर वस्त्र तथा गुरु के हृष्ट-पुष्ट शरीर को ही अपना गुरु मानते हैं तो आप गलती पर हैं। उनके शब्दों को अपने जीवन में घटाना ही वास्तविक गुरु भक्ति है। यदि हम उनकी शिक्षा को व्यावहारिक रूप में नहीं लाते तो वह जड़ पूजा हो जायेगी; चेतन की नहीं।

स्वामी विवेकानन्द की तरह अपने भीतर श्रद्धा को उत्पन्न कीजिये, श्रद्धा से ही बेड़ा पार हो सकता है। पद्मपादाचार्य की तरह श्रद्धा उत्पन्न कीजिये तभी आपका उद्धार होगा। जगद्गुरु शंकराचार्य नदी के एक किनारे पर खड़े थे, बीच में नदी बड़े वेग के साथ बह रही थी। नदी के पार दूसरे किनारे पर पद्मपादाचार्य शिष्य रूप में खड़े थे। गुरुदेव कहने लगे—आजाओ ! उनका शब्द सुनते ही पद्मपादाचार्य पादुका धारण किये हुये जल पर ही चल पड़े। पुल की तरफ दृष्टिपात तक नहीं किया। इस अद्भुत

दृश्य को देखकर अन्य शिष्य चकित होकर गुरु से कहने लगे—महाराज! आपने इन्हें कौनसी सिद्धि प्रदान की है, जिससे यह नदी में चलकर आपके पास पहुँच गये हैं; हम तो नहीं चल सकते। यह सुनकर गुरुदेव कहने लगे—'मैं अन्यायकारी नहीं हूँ, मैंने जो कुछ तुम्हें बताया है वही इसको भी बताया है। परन्तु इसका भक्तिरूपी समय समाप्त हो गया है। आप लोगों की श्रद्धा अभी अधूरी है; परन्तु इसकी पूर्ण हो चुकी है।

ऐ वेदव्यास की अमरज्योति! आप अपने सर्वत्र परिपूर्ण रूप द्वारा इन उपस्थित श्रोतागण—जो दुःख, संकट, मोह तथा अपने अमूल्य समय का त्याग करके इतना तप करके यहाँ आये हैं, इन सबकी मनोकामना पूर्ण करो। ऐ प्रभो! ये लोग चर्मचक्षु से संसार को न देखकर इस नश्वर जीवन में ही दिव्यदर्शन करें। आप लोगों ने जो जप, तप, दान तथा सुख का त्याग किया है। भगवान आपको उसके परिणाम स्वरूप नाम-दान प्रदान करें। स्वामी राम तथा वेदव्यास आदि वेदान्त को प्रारब्ध के रूप में नहीं मानते थे। 'जो महाराज करेंगे वह हो जायगा, जो भाग्य में होगा वह मिल जायगा आदि कहना आलसी बन बैठना है। कहा भी है:—

'दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति।'

कायर लोग दैव दैव कहा करते हैं। यहाँ पर वेदान्त की शिक्षा कहती है कि कमजोर कर्म को बलवान् कर्म काट देता है। यदि आप एक छोटा सा पुण्य कर्म करते हैं और बहुत बड़ा पाप कर्म भी साथ ही कर लेते हैं तो पाप कर्म आपके पुण्य कर्म को खा जायेगा। जैसे आपने किसी भूखे को भोजन दिया यह पुण्य कर्म किया, उधर आपने किसी नारी का जेवर छीन लिया; यह पाप कर्म किया। अब इन दोनों कर्मों में पाप कर्म बड़ा हो गया। अतः यह आपके शुभ-कर्मरूप भोजन-दान को छिपा देगा। इसलिये अपने पुण्य कर्म को प्रबल बनाइये। अपने पाप कर्म को दुर्बल कीजिये। भजन करते समय यह भावना कीजिये कि मेरा भजन एक बम्ब गोला है जो सब प्रकार के पापों को नष्ट कर देगा। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। महान् पापी से पापी भी सत्संग में जाकर जगद्गुरु बन जाता है। बाल्मीकि जी का उदाहरण किससे छुपा हुआ है—

उलटा नाम जपत जग जाना।
बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥

बाल्मीकि एक महान् डाकू थे। साधु-संग पर महर्षि बाल्मीकि होकर रामायण के निर्माता बने। कुसंग में जाकर अच्छे से अच्छा पुरुष भी गिर जाता है। अतः सत्संग लाभ के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जहाँ तक हो सके शुभ कर्म करने चाहिये। ज्ञान प्रवाह को चलाना चाहिये। ज्ञान प्रवाह से ही दुःख-संकट का नाश हो सकता है। उपनिषद् का वचन है:—

'तरति शोकमात्मवित्।'

आत्मवेत्ता पुरुष शोक को पार कर जाता है। मोटर-कार को चढ़ाई में ले जाने के लिये पैट्रोल की आवश्यकता होती है परन्तु उतराई के लिये नहीं। इसी प्रकार जीवन तथा बुद्धि को बनाने के लिये परिश्रम की आवश्यकता है, विषयासक्त रहने के लिये नहीं। धन कमाना कठिन है, परन्तु खर्च करना सुगम है और धन का सदुपयोग करना कमाने से भी अधिक कठिन है। आप वर्ष भर के जप-तप तथा सत्संग आदि को एक घड़ी में नष्ट कर सकते हैं। इसलिये श्रद्धायुक्त रहिये। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है:—

'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्।'

श्रद्धालु पुरुष को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह संसार भवसागर है। काम, क्रोध, लोभ तथा

मोह आदि ग्राह हमें सर्वदा संसार में डुबाते रहते हैं, तरने नहीं देते। कोई बिरला ही प्रतापी सद्गुरु की कृपा से इससे पार होता है। संसार के जितने भी दुःख हैं वह भँवर हैं और प्रभु नाम नैया है। भगवान राम-कृष्ण तथा गुरुदेव इसके मल्लाह हैं। जब हमने नौका को मल्लाहरूपी सद्गुरु के हाथ में (अपना जीवन) दे दिया तो हमें निश्चिन्त होकर कर्त्तव्य करना चाहिये। अब हमारा जीवन सद्गुरुरूपी मल्लाह की दया पर निर्भर है। वही हमें पार उतारेंगे। आप अपने गुरुदेव पर सच्चे भाव से श्रद्धा कीजिये। आपका बेड़ा पार होगा, पल पल में आपकी सहायता होगी।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

* प्रेरणा *

यह समय न सदा रहेगा।
परिवर्तनशील जगत में किसको चित्त चहेगा॥

जो पुण्य कर सको, कर लो; सद्भावों से हिय भर लो।
सद्गुरु का आश्रय धर लो, भवसागर से अब तर लो।
यह कर न सके तो जीवन, माया से विवश बनेगा॥

यदि धन है तो दानी बन, विद्या है तो ज्ञानी बन।
परमेश्वर का ध्यानी बन, अति सरल निरभिमानी बन।
चिन्ता न करो तुम इसकी, कोई क्या मुझे कहेगा॥

तुम सावधान हो जाओ, अपना अज्ञान मिटाओ।
आओ, सत्पथ में आओ, जो बिगड़ी उसे बनाओ।
अभिमान मोहवश मानव, जग में अति दुःख सहेगा॥

जागो तुम सोते क्यों हो, यह अवसर खोते क्यों हो।
अपराधी होते क्यों हो, भयवश तुम रोते क्यों हो।
वह 'पथिक' अभय होगा, जो सद्गुरु का ज्ञान गहेगा॥

—पथिक

सरलता

—आचार्य श्री स्वामी वासुदेवानन्द जी

अध्ययनकाल में मैंने पढ़ा था कि अत्यन्त सरल नहीं होना चाहिये। यदि विश्वास नहीं है तो जाकर देखो वनस्थली को, वहाँ सरल तरुवर काटे जाते हैं और टेढ़े त्याग दिये जाते हैं। महात्मा श्री तुलसीदास जी ने भी इसी उक्ति को सुक्ति समझकर लिख दिया :—

'टेढ़ जान शंका सब काहू।
बक्र चन्द्रमहिं ग्रसहि न राहू॥'

ऐसी ही अनेक उक्तियों ने हृदय में यह बात बसा दी थी कि सीधे का समय नहीं है। सीधी अंगुलियों से तो नवनीत (मक्खन) भी नहीं निकलता। अतः हृदय में यह उथल-पुथल बनी ही रहती थी कि क्या सीधे का समय नहीं है? क्या सरलता का सदा के लिये बहिष्कार कर दिया जाय? यदि सरलता त्याज्य ही है तो इसको मनीषी मुनिवरों ने क्यों अपनाया था? जब सर्वत्र कुटिलता का ही साम्राज्य होगा तब शान्ति को पलायन अवश्य ही करना पड़ेगा। स्वर्ग में शान्ति को आवासस्थान न मिला तो देव दुर्लभ मर्त्यलोक में पहुँची थी। यहाँ भी प्रायः कवियों ने कुटिलता के गीत गाकर यही समर्थन किया कि सीधे का संसार नहीं है। वैकुण्ठ में भी कुटिलता के दर्शन किये सनकादिक ने। अतः टेढ़ाई से काम लिया और जय-विजय को शाप दे दिया। उनके विचारों में सरलता से कार्य न चल सका। शिव जी ब्रह्मादि ने तो प्रायः कुटिलता रूपी अस्त्र का ही सदा प्रयोग किया। इसी बात की परीक्षा भृगु ने ली थी। स्वल्पतर सिधाई त्यागने पर भृगु को भागना पड़ा था; ब्रह्मा और शिव के सामने से। सरल हृदय देवर्षि नारद को भी अनेक बार सरलता का त्याग करके कुटिलता को सहचरी बनाना पड़ा। अन्यथा कुबेर पुत्रों (नलकूबर, मणिग्रीव) को शाप कैसे दे सकते। अनेक शास्त्रों के परिशीलन मे पता चलता है कि सरल का संसार नहीं है, तो सरलता को यहाँ से बिदा कर देना ही चाहिये।

हमें सहसा शिमला, लाहौर-हरिनाम संकीर्तन के सम्मेलन में जाना पड़ा। श्री स्वामी वासुदेवानन्द जी तथा अन्य भक्तों ने तार द्वारा आमन्त्रित किया। शिमला देखने की उत्सुकता भी थी अतः तत्काल चल पड़े। अपरिचित पथ की अनेक कठिनाइयों का अतिक्रमण करते हुए जब सोलन के समीप पहुँचे तो सहसा चीड़ के सरल तरुवरों को देखकर स्मृति हो आयी "छिद्यन्ते सरलाः", सरल काटे जाते हैं, तत्काल एक कल्पना में विभोर हो गये, ये तरुवर भी तो अत्यन्त सरल हैं इन्हें क्यों नहीं काटा गया। इसी कल्पना में बैठे थे और बस अपनी मन्थर गति से ठिठक ठिठक कर चल रही थी। हृदय ने तत्काल निर्णय देना चाहा कि कवि सरल काटे जाते हैं—मिथ्या कहते हैं। अरे भाई! यहाँ तो कोई भी कुटिल नहीं है, यहाँ सभी सरल हैं। अतः सभी कटने चाहियें; यहाँ छोड़ें किसको? बस तो चलती ही जा रही थी। उसने देवदारु के अत्यन्त सरल तरुवरों के समीप पहुँचा दिया। प्रकृति की रचना निराली थी। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रकृति ने अपनी अशेष चतुराई यहाँ ही लगा दी है। देवदारु के तरुवर एक दूसरे से आगे बढ़ने में इतने प्रयत्नशील प्रतीत हो रहे थे मानो होड़ लगाकर आगे बढ़ रहे हों। गगनचुम्बी तरुवर प्रत्येक को प्रेरणा देते से प्रतीत हो रहे थे कि हमारी भांति स्पर्धा करो, आगे बढ़ो ऐसे ढंग से जिससे दूसरे को प्रेरणा तो प्राप्त हो पर हानि न हो। कितने सरल हृदय हैं ये तरुवर

जो विशाल होने पर भी लघु को उत्थान का पूरा अवसर देकर अपनी विशालता एवं सरलता का परिचय दे रहे थे। अभागे हैं वे मानव जो इनके समीप पहुँच कर भी अपने हृदयों को विशाल नहीं बना पाते हैं। यद्यपि हम क्षुत्पिपासा से आकुल थे तथापि इन दिव्य तरुवरों की सरलता को देख कर दिव्य शांति समन्वित हो गये। मार्ग के कष्ट उसी प्रकार भूल गये जैसे भक्त भगवान को पाकर तपः-क्लेश भूल जाता है। हृदय में अपूर्व हर्ष था इन दिव्य वृक्षों की सरलता को देख कर।

सर्वविध सुखद मित्रवर के मिलने तथा वहाँ के सत्संगियों के सत्कार आदि से अनेक शंकायें निवृत्त होने पर भी सरल काटे जाते हैं यह पहेली उलझी ही थी। मन पुनः २ यही विचार करता था कि सरल काटे जाते हैं तो ये क्यों खड़े हैं? यहाँ तो कोई कुटिल है ही नहीं जो बच जाये। पुनः ध्यान आया कि सर्वत्र कुटिलता की पूजा नहीं होती है, वहीं सरलता भी पूजी जाती है। फिर यह भी ध्यान आया कि सरलता की सर्वत्र ही पूजा होती है; कुटिलता कहीं कहीं भय से पूजी जाती है। बिना भय के कोई भी कुटिलता की पूजा नहीं करता है। भयभीत व्यक्ति ही कुटिलता को पूजते हैं, सरलता को सभी। निर्भय कुटिलता को कुचल डालता है और सरलता का संबल लेकर विश्ववंद्य हो जाता है। अनेक विचार विमर्शों के अनन्तर यह निर्णय सूझा कि जहाँ कुटिल सरल दोनों होते हैं वहाँ कुटिल हृदय मानव सरल हृदयों को हानि पहुँचाते हैं किन्तु जहाँ सभी सरल हैं वहाँ कोई किसी को भी हानि नहीं पहुँचाता। वे दूसरों की सहायता करते हुए प्रेरणा देते हैं कि अपने अपने लक्ष्य की ओर बढ़ो। यही वेदान्त का संदेश है कि सर्वत्र अपने आत्मा के दर्शन करो। यही सरलता है कि सबमें अपने स्वरूप को देखो। जब सर्वत्र अपना ही आत्मा दीखेगा तब कौन किसको हानि पहुँचायेगा। जहाँ द्वैत है वहीं कुटिलता है, तो वहीं हानि पहुँचाने की भावना भी उदित होती है। अतः शिमला के अंक में क्रीडा करने वाले दिव्य देवदारु के तरुवर अपनी सरलता द्वारा प्रत्येक को यही उपदेश दे रहे थे कि यदि सर्वत्र अपने स्वरूप को देखोगे, कुटिलता त्यागोगे तो मृत्यु से मुक्त होकर अमर हो जाओगे। वेदान्त की यही आज्ञा है कि सरल बनो। सब में अपने स्वरूप को देखो। सब में अपना स्वरूप तभी देखा जा सकता है जब हृदय सरल होगा। कुटिल हृदय में आत्मदर्शन की क्षमता आ ही नहीं सकती।

❀ विद्या का प्रयोजन ❀

विद्या से लाभ यही है कि वह व्यक्ति विनम्र हो। विद्वान् होकर भी जो उद्धत है, उद्दण्ड है, उसकी विद्या दो कौड़ी के भी मोल की नहीं रहती। उस पर समझो माँ भारती की कृपा हुई नहीं है। उसने अश्रद्धा से विद्या पढ़ी है। विश्व के महान् कवि और कलाकार प्रायः आस्तिक थे और हैं। नास्तिकता और उद्धतपने से आज तक किसी ने अपने को इतिहास की विभूति नहीं बनाया। वैसे विद्या का मुख्य प्रयोजन ही है अपने स्वरूप को जान सकना। आस्तिकता अपने स्वरूप की स्वीकृति है, जिसने यह नहीं जाना, उसकी विद्या फलवती हुई नहीं मानो। संसार की ओर से उद्धत और उपरत होकर स्वरूप के ज्ञान की ओर जो विनम्र और आस्तिक होते आये हैं, उन्हें ही विश्व ने महामानव की उपाधि दी है।

—स्वामी निर्मल जी

योगसाधन और उसका अधिकारी

—एक साधक

योग सांख्य का ही क्रियात्मक रूप है। यह वाद-विवाद रहित सार्वभौम-धर्म है, जो तत्वज्ञान को स्वयं अनुभव द्वारा प्राप्त करना सिखाता है—मोटे तौर पर योग स्थूलता से सूदमता की ओर जाना है यानी बहिर्मुख से अन्तर्मुख होना है। जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती जायेंगी, उतनी ही उनमें रज और तम की मात्रा बढ़ती जावेगी, जितना वृत्तियों का निरोध होता जायेगा, सत्वगुण का प्रकाश बढ़ता जायेगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है। पृथ्वी में जल सर्वत्र व्यापक है; परन्तु स्थान विशेष के खोदने पर ही वह शुद्ध रूप में प्राप्त होता है। इसी प्रकार परमात्म तत्व के सर्वत्र व्यापक रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूप (निरावरण ब्रह्म) को साधनविशेष द्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जाता है, इसी यत्न का नाम योग है।

योग के साधन की क्रियाओं को जानने से पहिले इसका कौन अधिकारी है यह जानना जरूरी है; जैसे टैंथ पास व्यक्ति ही एफ०ए० के इम्तहान में बैठ सकता है वैसे ही यम और नियम का पालन करने में जो समर्थ है, वही योग का अधिकारी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये यम के अन्तर्गत हैं और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम के अन्तर्गत हैं—यानी जो मनुष्य तत्व का ज्ञान स्वयं अनुभव करना चाहता है उसके लिये ये दस लक्षण जरूरी हैं। इन दसों यम-नियम का पालन करने पर ही तत्व का साक्षात्कार हो जायेगा ऐसी बात नहीं—इनका पालन करने से योग का अधिकारी होगा अथवा उसको साधक कहा जायेगा—ये तो रही शास्त्रीय बात। अब इसी को क्रियात्मक रूप से विचार करलें—मेरा अनुमान है कि यदि कोई जिज्ञासु शास्त्रनिषिद्ध कर्मों का परित्याग करके वैषयिक फल कामना विवर्जित होकर, कर्त्तव्य बुद्धि से भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त नित्यप्रति प्रसन्न चित्त कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करता रहे, तो इतने साधारण अभ्यास से ही यम-नियम अवश्य सिद्ध हो जाने चाहियें अथवा हो जायेंगे—इसी को निष्कामता भी कहते हैं, तात्पर्य यह है कि निष्कामकर्मी को ही योग का अधिकार है—इसी को योग का बहिरंग साधन भी कहते हैं। जब जिज्ञासु योग के बहिरंग साधन में परिपक्व हो जावे तब योग के अंतरंग साधनों में प्रवेश करना उचित है अथवा इसको यों कहें कि जब जिज्ञासु निष्काम भाव से कर्म करने में पारंगत हो जावे यानी शुद्ध अन्तःकरण वाला हो जावे; क्योंकि निष्काम भाव से कर्मों का सम्पादन करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है यह सर्व शास्त्रों को सम्मत है; अन्तःकरण शुद्ध होने पर सांसारिक विषयों से राग निवृत्त हो जाता है यानी वैराग्य प्राप्त होता है, वैराग्य प्राप्त होने पर स्वतः जिज्ञासु एकान्तवास को भागता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वैराग्ययुक्त एकान्तवास का अधिकारी ही योग के अंतरंग साधनों प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अधिकारी है। आसन यानी किसी एक प्रकार से जिसमें मेरुदण्ड सीधा रहे, देर तक बैठने का अभ्यास जिज्ञासु को प्रारम्भ से ही करते रहना उचित है। साधक को उचित है कि शनैः शनैः आसन तीन घंटे का सिद्ध करले, अथवा लगातार ३ घंटे मेरुदण्ड सीधा किये एक ही आसन पर बैठने का अभ्यास होना चाहिये। इस आसन सिद्धि से ध्यान और समाधि में बड़ी सहायता मिलती है। स्वास्थ्य को ठीक रखने

के लिये साधक को कम से कम आधा घंटा दूसरे उपयोगी आसन भी अवश्य नित्य करने चाहिए। इन उपयोगी आसनों में पश्चिमतान, शिरसासन और सर्वांगासन विशेष उल्लेखनीय हैं। इन आसनों की विधि किसी जानकार से मालूम करके करना उचित है।

अब योग के अन्तरंग साधनों पर विचार करना है। यह हमको भूल न जाना चाहिये कि वैराग्ययुक्त एकान्तवासी जिज्ञासु ही इन साधनों का अधिकारी है। चित्त से जब तक संसार बिलकुल उतर नहीं जाता, तब तक परमार्थ नहीं ठहरता। मनोभूमि वैराग्य से जब शुद्ध हो जाती है तब उसमें बोया हुआ साधन बीज अंकुरित होता है। योग साधने का स्थान बहुत पवित्र, साधारण हवादार, मक्खी-मच्छर आदि से रहित, निर्जन तथा सुहावना होना चाहिये। ऐसे तपोकुटीर में योगाभ्यास के लिये किसी लकड़ी की चौकी पर कुश का आसन बिछाकर उसपर मृगचर्म या ऊनी कम्बल डालकर फिर मुलायम सूती वस्त्र बिछावें। हमेशा उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके अभ्यास करें। तपो कुटीर में अपने इष्टदेव का फोटो या मूर्त्ति विराजमान करें। धूपबत्ती, अगरबत्ती, घी का दिया आदि समय समय पर जलते रहें। बड़े श्रद्धा और भक्तिपूर्वक इष्टदेव को प्रणाम करके एवं चन्दनपुष्प आदि चढ़ाकर निश्चयात्मक-बुद्धि से साधन में नित्यप्रति प्रविष्ट होवें—योग तत्वोपनिषत् में लिखा है :—

योग विघ्नकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः।
लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम् ॥
शाकजातं रामठादि वह्नि स्त्री पथसेवनं।
प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशांश्च वर्जयेत् ॥
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तंक्षीराज्यभोजनं।
गोधूम मुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धि करं विदुः ॥

भावार्थ—योगाभ्यासी को, लवण (अधिक नमक) खट्टा, तेज मिरच आदि, बासी व सूखा, हींग और शाकसमूह इत्यादि योग विघ्नकारक आहार नहीं करना चाहिये—दूसरे, अग्नि-स्त्री पथसेवन (अधिक रास्ता चलना)—प्रातः स्नान-उपवास एवं शरीर को क्लेश देने वाले कर्मों का त्याग करें—तीसरे प्रथमाभ्यास काल में गौ का दुध, घृत सेवन करना उत्तम है। गेहूँ की रोटी, बासमती चावल, मूँग की दाल योगवृद्धिकारक वस्तुयें हैं। साधक को इन बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिये :—

(१) ५ घंटे से अधिक न सोवे,
(२) सूर्योदय से २ घंटे पहले उठे,
(३) कम से कम बोले अथवा मौन रहे,
(४) जब भोजन करे तो आधा पेट, चाहे दिन में दो या तीन मर्तबा खावे,
(५) पलंग पर न सोवे,
(६) अधिक वस्त्रों का व्यवहार न करे।

उपरोक्त बातों से युक्त पुरुष प्रथम प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करें, स्वभावतः श्वास-प्रश्वास की गति को निरोध करना ही प्राणायाम कहलाता है। यह प्राणायाम बहुत प्रकार का होता है, बहुत पुराने जमाने में तो तमाम प्रकार के रोग प्राणायाम के द्वारा ही दूर किये जाते थे। प्राणायाम भी किसी जानकार से सीखकर करना उचित है। प्राणायाम कम से कम आधा घंटा करके दिनमें दो बार करें और यदि सम्भव हो तो एक या दो बार रात्रि में भी करें। प्राणायाम से शरीर तेजस्वी होता है और मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है।

दूसरा अंतरंगसाधन है, प्रत्याहार यानी इन्द्रियों को अपने विषयों से निरोध करना ही प्रत्याहार कहाता है। वास्तव में तो जिज्ञासु को अन्तःकरण के शुद्धिकाल में ही विषयों में दोष दृष्टि होने लगती है और पूर्ण वैराग्य प्राप्त होने पर तो विषयों का राग भी निवृत हुआ होता है फिर भी साधन काल

में आत्मचिन्तन करते रहने से या भगवत चिन्तन करते रहने से परमार्थ उन्नति में बड़ी सहायता मिलती है। जब साधक का सांसारिक विषयों से पूर्ण वैराग्य होता है तब साथ ही साथ अपने इष्टदेव भगवान में पूर्ण अनुराग होता है, अतः उस समय साधक को उचित है कि अधिक से अधिक काल तक भगवत् चिन्तन व ध्यान करता रहे। इससे मन की चंचलता (विक्षेप) दूर होती है, जब भगवत चिन्तन परिपक्व हो जाता है यानी भक्त और भगवान् एक रूप हो जाते हैं अथवा यूँ कहें कि ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटी समाप्त होकर केवल ध्येय भगवान् ही रह जाता है तब इष्टदेव भगवान् की कृपा से आत्म चिन्तन का स्वरूप प्राप्त होता है, यही आत्म चिन्तन प्रथम सविकल्प समाधिरूप में चलता है फिर अभ्यास करते करते एक दिन ऐसा आता है कि निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होकर साधक जीवन्मुक्त होता है। सर्वविध नाम-रूपात्मक जगतरूप अन्तःकरणवृत्ति को निरोध करके बिंबचैतन्य स्वरूप निर्गुण ब्रह्म में हीं निरन्तर चित्त निबद्ध करने को यानी तैलधारावत् अविच्छिन्नतया ब्रह्माकाराकारिका अन्तःकरण वृत्ति प्रवाह के उदय करने को समाधि नाम से कहा गया है। ध्यान और समाधि में इतना ही अन्तर है कि ध्यान में त्रिपुटी रहती है और समाधि में त्रिपुटी का लय हो जाता है। दूसरे ध्यान में जगताकार वृत्ति होती है और समाधि में ब्रह्माकार वृत्ति होती है। सविकल्प और निर्विकल्प में अन्तर इस प्रकार का है कि सविकल्प में ब्रह्माकार वृत्ति के सहित, विकल्पित दृश्य शब्दादि का भी कभी कभी उदय होता रहता है, परन्तु निर्विकल्प अवस्था में यह कुछ न होकर केवल निरावरण ब्रह्म का अनुभव होने के कारण जडवत् एवं सर्व चेष्टा रहित होता है। यह निर्विकल्प समाधि ही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है। यही मुक्ति है तथा यही दुःखों की आसक्ति निवृति है। वैराग्ययुक्त एकान्तवासी योगी को प्रणव (ॐ) का जाप वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ सहित बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है, शीघ्र ही उत्तम फल प्रदान करता है। ॐ का वाच्यार्थ सगुण ईश्वर है और लक्ष्यार्थ निर्गुण ब्रह्म है—इस विषय के बारीक तत्व महापुरुषों से एकान्त में मालूम करना उचित है। ऐसे एकान्तवास में केवल अद्वैत ग्रन्थ जैसे योगवासिष्ठ, आत्म-पुराण, अनुभवप्रकाश (बाबा कालीकमली वाले) भोले बाबा की वेदान्त छन्दावली आदि स्वाध्याय करना बड़ा हितकर होगा।

स्वधर्माचरण करते हुए आत्मबलिदान श्रेष्ठ है, पर परधर्मानुसरण भयोत्पादक है।

—श्रीभगवद्‌गीता

ब्रह्मभाव वास्तविक है, जीवभाव तो काल्पनिक है, अतः काल्पनिक का नाश ही परमात्मा में सम्मिलित होना है।

—एक सन्त

संसार में निजकृत कर्मों से ही शान्ति या अशान्ति तथा ज्ञान या अज्ञान प्राप्त होता है।

—स्वामी विवेकानन्द

चित्तोपाख्यान

—श्री डा० भीखनलाल जी आत्रेय एम. ए. डी. लिट्

संसार के जितने सुख-दुःख हैं वे सब चित्त के अधीन हैं। बन्ध और मोक्ष भी चित्त की ही अवस्थायें हैं। जो चित्त वासनाओं की पूर्ति के लिये इधर उधर दौड़ता रहता है उसको कभी शान्तिः नहीं मिलती, जिसने वासनाओं से निर्मुक्ति पा ली है वही चित्त शुद्ध ब्रह्म बन जाता है और अनुपम परमानन्द का अनुभव करता है—इन बातों को समझाते समय वशिष्ठ जी ने रामचन्द्र जी को चित्तोपाख्यान (चित्त की कहानी) सुनाया, जो इस प्रकार है :—

हे राम ! एक बहुत बड़ा, शान्त और भयानक वन है। एक समय उसमें बिचरते हुए मैंने एक विचित्र पुरुष देखा। वह पुरुष बहुत बड़े शरीर वाला, सहस्रों आँखों और हाथों वाला था। उसकी क्रियायें पागल की क्रियाओं को तरह देख पड़ती थीं। वह कभी इधर दौड़ता था, कभी उधर; कभी रोता था, कभी हँसता था; कभी नाचता था, कभी शोकातुर होकर गिर पड़ता था। उसकी सहस्रों आँखें उसको सहस्रों बिषयों का दर्शन कराती थीं, जिनकी प्राप्ति के लिये वह अधीर होकर चारों ओर दौड़ता रहता था और किसी एक बिषय पर स्थिर मति होकर उसका आस्वादन नहीं कर पाता था किन्तु रोते रोते उसकी दृष्टि और बुद्धि इतनी मन्द पड़ जाती थी कि वह अन्धे की तरह करंजुवे के घने कुञ्ज में प्रवेश करके उसके काँटों से विदीर्ण होकर चिल्लाने लगता था। उसके शरीर में इतनी वेदना होती थी कि उसके मिटाने के लिये वह एक कुयें में कूद पड़ता है। वह कुआँ अंधेरे और बिषैले जन्तुओं से भरा हुआ था। रात भर उसमें किसी प्रकार रहकर प्रातःकाल फिर वह उस कूप से बाहर निकल कर अपने बेचैन जीवन का आरंभ करता था। घूमते-फिरते कभी कभी उसको केले का सुगन्धित और शीतल वन मिल जाता था जिसमें वह घड़ी दो घड़ी विश्राम और भरपेट भोजन पा लेता था। लेकिन वहाँ पर भी उसे शान्ति नहीं मिलती थी। मैंने यह भी विचित्र बात देखी कि मेरे यत्न करने पर भी वह मेरे सम्मुख नहीं होता था।

एक समय ऐसा हुआ कि बहुत यत्न करने पर मैंने उसको अपने सामने बुलाया और एक दृष्टि उसके ऊपर डाली। देखते देखते ही उसके सहस्रों हाथ और नेत्र क्षीण होने लगे। थोड़े ही समय में उसका सारा शरीर छिन्न भिन्न हो गया और वह मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर शान्त हो गया। मुझे उस वन में इस प्रकार के उनेक व्यक्ति मिले। जो जो मेरे सम्मुख आये वे सब शान्त हो गये और जिन्होंने मुझसे मुँह छिपाया वे अभी तक उसी प्रकार भ्रमण कर रहे हैं।

रामचन्द्र जी ने वशिष्ठ जी से पूछा—हे ब्रह्मन् ! वह वन कहाँ है और वह पुरुष कौन है ? वशिष्ठ जी बोले—हे राम जी ! वह वन यह संसार है और वह मत्त पुरुष मन है। सहस्रों नेत्र और हाथ मन की अनन्त वासनायें हैं। वह अन्धकूप गृहस्थ है, करंजवे का कुञ्ज नरक है और कदली वन स्वर्ग है। मैं जिसके सम्मुख होता हूँ वह मन शान्त और मुक्त हो जाता है। मैं विवेक हूँ। विचार और विवेक के द्वारा ही मन अमनीभाव को प्राप्त होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है।



आत्मानुभव

★ जब आप विरह-वियोग और भेद-भाव के दलदल में फँस जाते हैं, तभी आप आराम से वंचित होकर विराम (बीमार) हो जाते हैं। जिस समय आप अपने को सम्पूर्ण और सर्वरूप अनुभव करते हैं, उसी समय आप पूर्ण और सम्पूर्ण हो जाते हैं।

★ आधि-व्याधि क्या है ? प्रेम के अभाव में संकोचन या संकीर्ण वृत्ति; केवल परछाईं के हिलने-डुलने से फड़फड़ाना और दिन के झूठे स्वप्नों के भय से चिल्लाना।

★ जब कोई बात बिगड़ती दिखाई देती है, तो उस समय अपने आपको प्रेम के विधान से ठीक करने के स्थान पर अड़ोस-पड़ोस से झगड़ना ऐसा है जैसा कि टेलीफोन के अदृष्ट सिरे पर बोलने वाले किसी मित्र से अशुभ समाचार मिलने पर टेलीफोन रिसीवर को तोड़ने लगना।

★ यह सत्य है कि बकवादियों, बाहरी नामरूपों में विश्वास करने वालों और लज्जाजनक 'प्रतिष्ठा' के निर्लज्ज दासों की संगति के समान और कोई विषैला पदार्थ नहीं है। परन्तु यह भी सत्य है कि जहाँ पर प्रेम का डेरा जमता है, वहाँ पर कोई भी गुस्ताख़ आवारा पर नहीं मार सकता।

★ ऐ मनुष्य ! तू ही अपनी चितवन से सारी वस्तुओं को चित्ताकर्षक बना देता है। उन (प्रेमभरी) आँखों से जब तुम उनकी ओर देखते हो, तो तुम्हीं स्वयं अपनी चमक उन पर डाल देते हो और फिर तुम्हीं उनके प्रेम में फँस जाते हो।

★ समय को तो प्रेम की स्वाभाविक प्रवृत्ति के साथ-साथ चलना पड़ता है।

—स्वामी राम

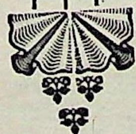
भजन



जब चल ही पड़े तब रुकना क्या,
जब देख लिया तब छुपना क्या ।

जब प्रेम गली में आ ही गये, तब इस दुनिया से डरना क्या ।
जब अपनी हस्ती मिटा डाली, तब गिरना और सँभलना क्या ।
जब दिलवर दिल में बस जाये, तब मिलना और बिछुड़ना क्या ।
जब घट-घट में है राम बसा, तब लड़ना और झगड़ना क्या ।
जब श्याम मेरा हरजाई है, तब जंगल बेले फिरना क्या ।
जब दुनिया से मुँह मोड़ लिया, तब रखना ठौर ठिकाना क्या ।
जब यह रिश्ते सब झूठे हैं, तब इनसे प्रीत लगाना क्या ।
जब कौड़ी साथ न जानी है, तब छल से धन भी कमाना क्या ।
जब सर्व ब्रह्म ही जान लिया, तब अपना और बेगाना क्या ।
जब तरकश हाथ से छोड़ दिया, तब भैया तीर निशाना क्या ।
जब अपना आप पहचान लिया, तब दर-दर पढ़ने जाना क्या ।
जब क़तरा बहर में मिल जाये, तब अपना आप दिखाना क्या ।
जब गुरु चरणों का ध्यान मिला, तब पढ़ना वेद-पुराना क्या ।
जब रंचक देहाभिमान रहे, तब 'मोहन' ब्रह्म का ज्ञाना क्या ।

—गोपालमोहन, अमृतसर



धर्मराज और यक्ष

—श्री देवेन्द्रदत्त जी सकलानी, राजपुर–देहरादून

ग्रीष्म-ऋतु का मध्याह्न; अंशुमाली अपनी प्रचंड रश्मियों से धरातल पर अग्नि वर्षा कर रहे हैं; पृथ्वी तवे के सदृश तप रही है। कहीं कोई प्राणी इस समय बाहर दृष्टिगोचर नहीं होता। युधिष्ठिरादि पाँचों भाई मृग का पीछा करते-करते वन में आ पहुँचे हैं। वे पसीने से लथपथ और थककर चूर हो रहे हैं। दौड़ते-दौड़ते प्यास भी लग गई है। इधर-उधर देखकर पाँचों एक सघन छाया वाले वृक्ष के तले बैठ जाते हैं। इतने में ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर बोले—"सभी तृषा से व्याकुल हैं। भैया सहदेव, तुम कहीं जल का पता लगाओ।" सहदेव पास के एक वृक्ष पर चढ़कर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाता है, कुछ दूरी पर एक कूप दिखाई देता है। वृक्ष से उतरकर वह लोटा और डोरी लेकर कुएं के निकट पहुँचता है। उसने रस्सी से लोटे को बाँधकर कुएँ में डालकर ऊपर खींचा और जल पीने को तत्पर हुआ ही था कि तभी कुयें को प्रतिध्वनित करती हुई एक आवाज सुनाई दी, "सावधान! अभी जल न पीना, इससे पूर्व तुम्हें मेरे प्रश्नों का उत्तर देना होगा।" चौंककर सहदेव ने इधर-उधर देखा "कौन है रे तू! मुझे पानी पीने से रोकने वाला।" उसने कहा और पानी पीने लगा...किन्तु अरे! यह क्या? उसी क्षण सहदेव अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

इधर सहदेव को गये बहुत देर हो गई थी, परन्तु अभी तक नहीं लौटा इसलिये युधिष्ठिर ने नकुल को भेजा। जब वह कूप के निकट पहुँचा तो भाई को वहाँ अचेत पड़े पाया, उसकी समझ में यह न आया कि बात क्या है। "खैर...पहले जल पी लूँ" यह सोचकर उसने जल-पात्र होठों से स्पर्श किया ही था कि कुयें से फिर वही आवाज सुनाई दी—"पहले मेरे चार प्रश्नों का उत्तर दो, उसके पश्चात् ही जल पी सकोगे।" वह तनिक चौंका फिर भी तृषा से व्याकुल जल पीने का लोभ संवरण न कर सका। किन्तु घूँट भरते ही नकुल संज्ञाहीन होकर गिर पड़ा। जब नकुल भी न लौटा तो अर्जुन को भेजा गया। अर्जुन जब कूप के सन्निकट पहुँचा तो आश्चर्य से उसके नेत्र विस्फारित रह गये। उसकी समझ में नहीं आया कि किस दुष्ट ने भाइयों की यह दशा की। उसने कुयें की जगत पर रखे हुए लोटे की ओर देखा वह और आगे बढ़ा ही था कि उसी समय उसे भी सुनाई दिया, "यदि कुशल चाहते हो तो मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, नहीं तो तुम्हारी भी वही दशा होगी जो तुम्हारे भाइयों की हुई है।" अर्जुन के नेत्र क्रोध से लाल हो गये, "ठहर जा नीच कौन है तू, तुझे ही तो खोज रहा था मैं।" यह कहकर उसने गांडीव पर तीर चढ़ाया और छोड़ने...किन्तु हाय! यह क्या? धनुर्धारी अर्जुन भी निःशस्त्र होकर धरा पर गिर पड़े। तीनों भाइयों को गये हुए बहुत देर हो गई किन्तु उनमें से कोई भी नहीं लौटा था। युधिष्ठिर कुछ चिंतित हो उठे। भीम बोले भैया, आप चिंतित न हों, मैं अभी पता लगाता हूँ। भीम भी कुयें पर पहुँचे और वही पूर्वोक्त आवाज उन्होंने भी सुनी, उनकी भी वही दशा हुई जो अन्य भाइयों की हुई थी। बहुत देर तक किसी के न लौटने पर धर्मराज अत्यन्त चिंतित हो उठे और सशंकित हृदय से उसी ओर चल पड़े जिधर चारों भाई गये थे। कुयें के निकट पहुँचे तो क्या देखते हैं कि सभी भाई मृतप्रायः पड़े हैं, लोटा रस्सी भी पास ही पड़ी हैं। इस दृश्य को देखते ही युधिष्ठिर

शोक संतप्त हो गये। खड़े होकर इधर उधर देखा और फिर गम्भीरता से घटना के कारण पर विचार करने लगे। इसी समय कुएँ में से किसी की वाणी उनके कानों से टकराई—

"का च वार्त्ता ? किमाश्चर्यम् ? कः पन्था ? कश्च मोदते ?
ब्रूहि में चतुरः प्रश्नान् मृता जीवन्तु बान्धवाः ॥"

अब धर्मराज युधिष्ठिर को यह समझते देर न लगी कि कुएँ में कोई देव या यक्ष था और उसी की यह सारी करतूत थी। यक्ष ने उनसे चार प्रश्नों का उत्तर पूछा था। उसने यह भी कहा कि यदि मेरे प्रश्नों का समुचित उत्तर दे सकोगे तो तुम्हारे मृत भाई पुनः जीवित हो उठेंगे। "यक्ष का पहला प्रश्न था; का च वार्त्ता ? अर्थात् बात क्या है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

"अस्मिन्महामोहमये कटाहे, सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तु दर्वीपरिघट्टनेन, भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥"

अर्थात् इस महामोह रूपी कड़ाह में; जिसके नीचे रात्रि और दिवस रूपी ईंधन(काष्ठ)सुर्य रूपी अग्नि के ताप से प्रज्ज्वलित है, काल मास और ऋतु रूप करछे से समस्त प्राणियों को पका रहा है। बुद्धिमान् व्यक्ति जो इस सत्य से परिचित हैं उनकी दृष्टि में संसार में यही बात (कहानी) है। यक्ष का दूसरा प्रश्न था; 'किमाश्चर्यम् ? जिसका उत्तर धर्मराज ने दिया—

'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममंदिरम् ।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥"

देखिये क्या विचित्र बात है कि प्रतिदिन बहुत से प्राणी कालकवलित होते रहते हैं और प्रत्येक को यह विदित है कि एक दिन हमें भी इसी पथ का पथिक बनना है। फिर भी प्रत्येक प्राणी जीवित रहने की कामना करता है। इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है कि इस पार्थिव कलेवर को नश्वर जानते हुए भी जीव इसका मोह नहीं त्याग पाते। तीसरे प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर बोले :—

"वेदा विभिन्नाः स्मृतयोऽपि भिन्नाः, नाऽसौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्था ॥"

यह बताना बड़ा कठिन है कि मार्ग कौनसा श्रेयस्कर है। वेदों में हम कुछ लिखा देखते हैं तो स्मृतियों में कुछ और ही। एक पुस्तक में कोई बात बताई गई है तो दूसरी में उसी का खंडन कर दिया गया है। सारांश यह है कि सभी शास्त्रों में मतवैभिन्य है। बड़े-बड़े मुनि और विचारक हुए हैं, किन्तु उनमें भी मतैक्य नहीं देखा जाता, सभी ने पृथक् पृथक् सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यदि सच पूछा जाय तो इन्हीं विभिन्न सैद्धांतिक उलझनों में फंसकर धर्म का वास्तविक तत्त्व लुप्तप्रायः हो चला है। इस स्थिति में हमें उसी मार्ग का अवलम्बन करना है जो समय समय पर हमारे महापुरुषों ने हमें दिखाया है; प्रत्येक सिद्धांत के सारभूत तत्त्वों को लेकर हमें अपना पथ आलोकित करना है। यक्ष का चतुर्थ प्रश्न था कि प्रसन्न कौन है ? युधिष्ठिर ने बताया—

"पंचमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे । अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर ! मोदते ॥"

(शेष पृष्ठ २४ पर)

* सन्तों की सूक्तियाँ *

ग्रन्थ पन्थ सब जगत के, बात बतावत तीन ।
राम हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन ॥

तन पवित्र सेवा किये, धन पवित्र कर दान ।
मन पवित्र हरि भजन कर, होत त्रिविध कल्यान ॥

धिक् मानस तन भक्ति बिन, धिक् मति बिना विवेक ।
विद्या धिक् निष्ठा विना, धिक् सुख बिन हरि टेक ॥

विद्या बल धन रूप यश, कुल सुत वनिता मान ।
सभी सुलभ संसार में, दुर्लभ आतम ज्ञान ॥

तीन लोक नवखण्ड में, गुरु ते बड़ा न कोय ।
कर्ता कर ना कर सके, गुरू करे सो होय ॥

कबिरा यह तन जात है, सके तो ठौर लगाय ।
कै सेवा कर साधु की, कै हरि के गुण गाय ॥

मर जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तन के काज ।
परमारथ के कारणे, मोहि न आवे लाज ॥

कबीर कलह अरु कल्पना, सत्संगति से जाय ।
दुःख वहाँ भागा फिरे, सुख में रहे समाय ॥

नारायण परलोक में, ये दो आवत काम ।
देना मुट्ठी अन्न की, लेना भगवत् नाम ॥

आवत गाली एक है, उलटत होय अनेक ।
कह कबीर नहिं उलटिये, वही एक की एक ॥

प्रेम खेल सबसों कठिन, खेलत कोऊ सुजान ।
नारायण बिन प्रेम के, कहाँ प्रेम पहिचान ॥



स्वात्मिक प्रतिभा

—श्री स्वामी सोमानन्द जी परिव्राट्, वाराणसी

मुहब्बत के क़ैदियो! दर्दे-जिगर पर हाथ रख देखो तो सही, किस तड़फ़ के साथ किस दिल से किसे याद कर रहे हो? वस्ल की कितनी तमन्ना छिपी है तुम्हारे सीने में? किन दर्दीले दिलों को लेकर आत्मसात करना चाहते हो। विरह की तड़फ़ में आँसुओं से भरी आँखों से कितनी रातें गुजारीं? वियोग की ज्वाला में कितने शोले जलाये दिल में? एकान्त में बैठ परवरदिगार परमात्मा की याद में कितनी घड़ियाँ बिताईं तुमने? दुनियावी प्यार में जीवन का कितना समय नष्ट किया और परमप्रभु परमात्मा के लिये जीवन के कितने क्षण दिये इसपर कभी क्या चिन्तन भी किया गया? उसके मिलन की हूक (कसक) से कभी कलेजा भी चाक हुआ? यदि नहीं, तो दर्देदिल का महत्त्व क्या? मूल्य क्या?

'तेरी याद में हैं ग़ाफ़िल, ऐ ख़ालिक़-खलक़।
पूछने ग़ैर से हम, अपनी ख़बर जाते हैं॥'

कितना प्रेमोन्माद कि अपनी निजरूपता को ही हम गैरों से जानने के लिये दौड़ते हैं।

'दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो यस्य मनसि स्थितः।
यो यस्य हृदये नास्ति समीपस्थोऽपि दूरगः॥'

जो जिसके मन में रमा हुआ है वह दूर होता हुआ भी समीप है और जो जिसके मन से निकल गया है वह पास में होता हुआ भी दूर है।

पति-वियोगिनी की व्यथा को देखा है आजतक किसी ने? उसके अधरोष्ठों को देखा है हिलते हुए किसी ने? वह अपने अस्फुट शब्दों से किसे याद करती है? किससे बातें करती है? पास जाकर उसके सुना है कभी? उठते बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते हर काम को करते हुए किसकी मधुर-स्मृति में मन्द-मुस्कान को बिखेरती हुई अपने ही आप किससे बातें वह वियोगिनी कर रही है? क्या यह राज़ मानव द्वारा जाना गया है? आह! उसके कलेजे की एक एक धड़कन किसे प्रतिध्वनित कर रही है? प्रवासी-प्रीतम दूर होता हुआ भी उसके हृदय में छाया हुआ है जिससे वह अहर्निश उसकी हर प्रकार की सेवा करती हुई अव्यक्तरूप से मीठी बातें करती रहती है। पास से गुज़रने वाले या खड़े व्यक्ति की स्पष्ट आवाज भी नहीं उसे सुनाई पड़ती और नहीं उसके कार्यों को देखती हुई भी देखती है; यह सब क्या है? कहना पड़ेगा कि उसे अपने एक पति के सिवा विश्व में और कोई दिखाई ही नहीं पड़ता।

मन्दिर-मस्जिदों में दौड़ने वालो! सर्वान्तर्यामी को अपने मन मन्दिर में आकर देखो कितना नज़दीक अपनी लाइट दे रहा है, दूर देश में भटकने वाले किसी भी इन्सान को आज तक सत्य का पता नहीं लग सका, जिसने उस नूरे इलाही को देखा, जाना और समझा है वह केवल अपने आप में ही उपस्थित होकर। वह अपना आप ही जिसके द्वारा यह सब देखा, जाना जाता है, सोऽहम् "मैं" स्वयं ही हूँ। इस प्रकार की दृढ़ता-स्थिरता स्वात्मिक प्रतिभा द्वारा ही सम्भव है। हर एक से सम्बन्ध जोड़ने वाली, हर एक पर झुकने वाली प्रतिभा को कभी सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती; ठहराव में ही सुख व आनन्द है। ठहराव स्थिरता का द्योतक है। सत्य पर रमण करने वाली प्रतिभा ही नित्य सत्वस्था है।

ओ प्रतिभाशाली इन्सान! जरूरत है प्रतिभा के स्थिरता की। स्थिरता में ही सुख, संतोष, आनन्द और प्रकाश की उपलब्धि सम्भव है। प्रवृत्ति-निवृत्ति पंथों पर से गुज़रने वाली प्रतिभा के

ठहराव का महत्व मात्र निवृत्ति मार्ग पर ही मुखरित है। व्यभिचारित्व में आनन्द कहाँ, शान्ति कहाँ और स्थिरता कहाँ। चिन्तनीय नारी की–नैसर्गिकता का चिन्तन :—

'जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं न स्त्रीणामेकतोरतिः ॥'

एक के साथ मधुर वार्तालाप, दूसरे के साथ फेंका हुआ कटीला–कटाक्ष तथा हृदय में तीसरे का ही चिन्तन, सत्य तो यह है कि आपातरमणीय रमणियों का रमण एक पर स्थिर नहीं।

ओ नादान मानव! इसी प्रकार यदि तेरी प्रतिभा भी चंचला है कि आज रामरूप ईश्वर पर, कल को कृष्णरूप ईश्वर पर, परसों शंकररूप भोलेनाथ पर, चौथे दिन क्षीरशायी भगवान् विष्णु पर और अन्य दिनों सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं में रमण के लिये दौड़ लगाती है तो ऐसी व्यभिचारिणी प्रज्ञा (बुद्धि) को सुख कैसा और शान्ति कैसी ? सुख-सन्तोष केवल आत्म-परायणा प्रतिभा को ही सम्भव है।

शादी के लिये संग्रहीत सैकड़ों नवयुवकों के चित्र (फोटो) शादी होने वाली नवयुवती की नजरों में बारम्बार आ-जाकर चमकते हैं; या उन सैकड़ों चित्रों पर अपने हृदय को दौड़ाती है कि इनमें से कौन मेरे हृदय-मन्दिर का स्वामी बने अथवा इन सैकड़ों चित्रों के नवयुवकों में से किस नवयुवक को अपने जीवन का प्रभुत्व समर्पण करूँ। रमणी की हर एक पर दौड़ती हुई नजर जब एक पर स्थिर हो जाती है, पति-वरण हो जाता है, पश्चात् सारे चित्र फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंक देती है। पतिदेव की आशंका को जागृत करने के लिये अन्य कोई भी चित्र अपने पास फटकने भी नहीं देती; कारण पतिव्रता-सुन्दरी का पतिदेव एक ही होता है; यह भारतीय-दर्शन, संस्कृति, सभ्यता और समाज का नियम है, संविधान है और भारतीय संस्कृति का समुज्ज्वल प्रतीक भी है, इसी में निष्कलंक भारतीय वंशपरम्परा और भावी यशस्वी सन्तति का उज्ज्वल पावन-चरित्र भी सन्निहित है।

प्रतिक्षण विभिन्न देवों से नजर लड़ाने वाली प्रतिभा, जिस समय महापुरुषों के कदमों में बैठ उनके वचनों पर अटल विश्वास कर एक स्वात्म सत्य पर अडिग हो जाती है, सच्चे हृदय से आत्मपरायण होती है, उस समय उसे राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवता एक मिश्री के बने खिलौने के सदृश कुछ भी नहीं प्रतीत होते। मिश्री के सिवा राम, कृष्णादि की मूर्तियाँ कुछ भी नहीं। वे सब खिलौने मात्र मिश्री ही हैं। निश्चयात्मिका-प्रतिभा 'एकमेवाऽद्वितीयम्' के महानादर्श पर जिसे वेदों ने भी गान किया है, इस महान् पथ का अनुसरण करती हुई स्वात्मानुभूति कराती है। गीताकार ने भी इसका वर्णन बड़े ही आनन्द के साथ किया है :—

'तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः ॥
(गी० अ० ५, श्लो० १७)

तद्रूप है प्रतिभा जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और सर्व प्रकाशक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में ही है सतत एकत्वभाव से स्थिति जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष स्वात्मज्ञान के द्वारा पाप रहित हुए अपुनरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त हो स्वस्वरूप को जान लेते हैं। कुशाग्र प्रतिभा द्वारा आत्मसाक्षात्कार किया जाता है। 'अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा' पावन प्रतिभा द्वारा ही अज्ञान की निवृत्ति होती है तथा 'भावना-भयनाशिनी' शिवोऽहम्, सोऽहम्' तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि यह शुभ-भावना ही भय का नाश करती है। सम्पूर्ण सृष्टि में स्वात्म भावत्वेन ही दृष्टि रखता हुआ मानव अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आत्मसाक्षात्कार करे। कारण— "नास्ति आत्म समं बलम्।"

जो सर्व का द्रष्टा, साक्षी, आत्मा, चेतन है वही सर्वशक्तिमान् सर्व में होकर सर्व को देखता और जानता है, उसके समान और कोई ताकत नहीं, उसकी शक्ति से ही प्राणी शक्तिशाली होता है। किन्तु यह अन्तरात्मा ऊर्ध्वरेता वीर्यवान् व्यक्ति द्वारा ही लभ्य है, जाना जाता है, इसके लिये वेद साक्षी है—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

विषय भोगों के द्वारा क्षीण कर दिया है अपना वीर्य जिसने, पशु पक्षियों की तरह बारम्बार रमण कर नष्ट कर दिया है ओज जिसने ऐसे बल हीन निकम्मे व्यक्तियों के लिये स्वात्म तत्त्व अलभ्य है, अप्राप्य है। वीर्य रक्षा के बिना, ऊर्ध्व रेता हुए बिना, आत्मज्ञान की प्राप्ति असम्भव ही है, बिना आत्मज्ञान के जीवित मनुष्य भी 'शव' (मुर्दा) तुल्य है—

"नरोऽज्ञानतो हतः"

संसार में कौनसा जीवित व्यक्ति अन्धकार में रहना पसन्द करेगा, कब्र के अन्दर के गहन अन्धकार में मुर्दे ही रखे जाते हैं।

दुनिया का प्रत्येक प्राणी प्रकाश चाहता है। प्रकृति का जड़ वर्ग भी प्रकाश की आकांक्षा करता है। ऊषाकाल की सूर्य रश्मियों को प्राप्तकर सम्पूर्ण वन उपवन विकसित और कोना-कोना प्रफुल्लित हो उठता है। चतुर्दिक् प्रकाश की छटा से सृष्टि का प्रत्येक छोर प्रफुल्लित हो उठता है; सर-सरोवरों के कमल विकसित हो उन पर भ्रमर गुञ्जार करने लग जाते हैं।

ऊषाकालिक रश्मियाँ अपने मीठे चुम्बनों से कुसुम-कलियों को नूतन चेतना प्रदान करती हुई उन्हें जागरूक बना प्रफुल्लित कर देती हैं। स्वात्म प्रकाश की महत्ता किन शास्त्रों ने वर्णन नहीं की? कहा भी है :—

'आत्म-प्रकाश रूपोऽस्मि ह्यात्मज्योती रसोऽस्म्यहम्।
आदिमध्यान्तहीनोऽस्मि ह्याकाश सदृशोऽस्म्यहम्॥'
(तेजो बि० उ० अ० तृ० म० १०)

मैं आत्म-प्रकाश रूप हूं, मैं आत्म-ज्योति रस हूँ, मैं आदि मध्य और अन्त से रहित हूँ, मैं आकाश के समान हूँ।

नरपुङ्गव! जितने भी प्रकाश तेरी नजरों से गुजरते हैं वे सब तेरे ही प्रकाश से प्रकाशित हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि के प्रकाश भी तेरे ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। अन्धकार भी तेरे ही प्रकाश से देखा और जाना जाता है। प्रकाश और अन्धकार दोनों का मानव! तू प्रकाश है, साक्षी है। ओ प्रतिभाशाली इन्सान! अपनी प्रतिभा की मुद्दतों से पड़ी गुलामियों की बेड़ियों को तोड़, स्वात्म-प्रकाश के स्वच्छ वातावरण में स्वच्छन्द भ्रमण करने दे, उसे महापुरुषों की छत्र छाया में ठहरने दे; सत्संग का अमृत छकने दे, फिर देख उस प्रतिभा के अट्टहास से दिग्दिगन्त गूंज उठेगा, कल्प-कल्पान्तरों का संचित तेरे जीवन का अन्धकार परे हटेगा; स्वात्मिक-प्रतिभा के इस कौतूहल पूर्ण अट्टहास से मानव! तू स्वयं नाच उठेगा और सहसा इन मन्त्रों का गायन कर उठेगा :—

'सच्चिदानन्द रूपोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत्।
सत्यासत्यं जगन्नास्ति संकल्प कलनादिकम्॥
कालोनास्ति जगन्नास्ति माया प्रकृतिरेव न।
शिवोऽहम्॥

ईश्वर जीव दा संवाद

प्रश्न—

लक्खां ज़ारियां कीतियां वन्द्या तें इस जनम मनुष्या दे पावणे नूँ,
लक्खाँ योनियाँ कटियाँ छोटियाँ जद रिहूँ तरसदा बन्दा कहावणे नूँ ।
बन्दा बणाँ इक वार ते कराँ वन्दना, कराँ वन्दना बन्धन मिटावणे नूँ,
'साईंदास' भूल्यूँ सगूँ होर भूल्यूँ, तू ते आया सी भूल बक्स्यावणे नूँ ॥

उत्तर—

गुण गाँवदाँ सदा भगवान् तेरे जिह्वा मिली सी गुणाँ दे गावणे नूँ,
कन मिले सी सुणन नूँ यश तेरा हत्थ मिले सी सेव कमावणे नूँ ।
अक्खाँ वेखणे नूँ सब विच रूप तेरा पैर मिले सत्संग विच जावणे नूँ,
'साईंदास' ने कीता कुझ भी ना लाया पेट तू पाप कमावणे नूँ ॥

प्रश्न—

की गुण तू वन्द्या गाँवणे ने जिह्वा नाल ते झूठ अलाउंना हैं,
कन्ना नाल सुणें निन्दा साधुवाँ दी हत्थाँ नाल ते लुट्ट मचावना हैं ।
अक्खाँ नाल तक्के परनारियाँ नूं पैराँ नाल कुसंग वल जावना हैं,
'साईंदास' मन तेरे विच खोट भर्या दोष पेट दा मैंनूं तू लावना हैं ॥

उत्तर—

अवगुणहार हां गुणां दा कदर नाहीं हुन्दा कदर ते कदे तैनूं भुलदा ना,
इक्को श्वास दा गुण वी जाण लेंदा जेड़ा मिलदा कितों किसे मुलदा ना ।
तेरे नाम दे विच सदा लीन हूँदा हीरा श्वास मेरा इक वी रुलदा ना,
'साईंदास' पर मन विच खोट ऐसा धोया तीर्थां ते ऐपर धुलदा ना ॥

सिद्धान्त—

सच्ची नीत दे नाल जे आखना हैं, विना धोतियां खोट हटा लवांगा,
गुरु रूप धर वण सुन्यार वागूं, नियम वाली कुठ्याली विच पा लवांगा ।
लाके ज्ञान अग्नी करके साफ कंचन, चमकदार इक डली वणा लवांगा,
'साईंदास' जे तेरे वलों ना कसर होई, अपने गले दा हार वणा लवांगा ॥

गुरु तत्व का रहस्य

साधुवेष में ★ एक पथिक

किसी शब्द का अर्थ तो बालक भी रट लेते हैं पर उसका भाव विचारशील मानव ही समझ पाते हैं और भावगत-रहस्य की अनुभूति सूक्ष्मदर्शी बुद्धिमानों को ही होती है। गुरु शब्द का भावार्थ बड़ी सरलता से तब समझ में आता है जब लघु शब्द के अर्थ का ध्यान रहता है। गुरु वह है जिसमें लघुता नहीं होती। जो किसी के द्वारा नहीं हिलता है—जिसे संसार के सुख-भोग की कामनायें चंचल नहीं कर पाती हैं और जो सुखद सुन्दर वस्तु पर विमुग्ध-लुब्ध नहीं होता है, वही गुरु है।

गुरु ज्ञानस्वरूप है, किसी गुरु में देहभाव अथवा देह में गुरुभाव की प्रतिष्ठा करना सत्य की ओट में असत्य की उपासना है। अपने ज्ञान-स्वरूप से भगवान् ही परम गुरु हैं। वे ही दुःखी प्राणियों के कल्याण के लिये शुद्ध तथा निर्मल—पवित्र अन्तःकरण वाले व्यक्तियों में अपना ज्ञानस्वरूप प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को मानव समाज महापुरुष, महात्मा और संत, आदि नाम से समलंकृत करता है। यदि किसी संत, महात्मा, महापुरुष नाम वाले व्यक्ति से सद्ज्ञान—दिव्यगुण अलग करके देखा जाय तो वह कदापि श्रद्धेय, पूज्य और माननीय न रह जायगा। इससे यह सिद्ध होता है कि आकृति—व्यक्ति पूज्य, सेव्य और उपास्य नहीं है; उसमें दैवीगुण तथा ज्ञान की पूर्णता ही उपास्य, सेव्य और पूज्य है। दैवीगुण—पूर्णज्ञान अथवा निष्काम प्रेम की उपासना—आराधना ही वास्तविक गुरु की उपासना—आराधना है।

गुरुपद की वन्दना सनातन से होती आ रही है परन्तु हम गुरु पद का अर्थ केवल शरीर के चरण ले लेते हैं और चरणों की पूजा में ही गुरु पूजा को सीमित कर देते हैं। फल फूल की भेंट देकर और स्वादिष्ट भोजन कराके तथा कुछ वस्त्रों की भेंट देकर गुरुसेवा मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनके छूटे हुए उच्छिष्ट अन्न को गुरु प्रसाद मानकर उसे पाकर अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं; परन्तु जिसके शरीर तथा चरणों की या चरण धूल की अथवा उच्छिष्ट प्रसाद की इतनी बड़ी महिमा गाते हैं, उसी महापुरुष के हृदय से निकली हुई वाणी द्वारा प्रकट हुई कल्याणकारी आज्ञाओं को मानने में हम कहीं आलस्य, कहीं प्रमाद, कहीं स्वच्छन्दता का परिचय देते हैं, यही कारण है कि हम लोग अपने को शिष्य, गुरुभक्त कहते हुए भी गुरु संग के महत् लाभ को अपने जीवन में दिखा नहीं पाते।

जिस प्रकार प्रपंचरत व्यक्ति लोभी, मोही, अभिमानी, ईर्ष्यालु, द्वेषी दीखते हैं उसी प्रकार यदि हम अपने को गुरुभक्त सत्संगी कहते हुए भी लोभी, मोही, अभिमानी बने रहे तो किस प्रकार यह सिद्ध कर सकते हैं कि गुरुभक्त हैं, सत्संगी हैं। यदि हम गुरु की समीपता का तथा सुसंग का सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं तो हममें और एक मनमुख में अन्तर होना ही चाहिए। इसके लिये हमें गुरु आज्ञा का पालन करना परमावश्यक है, उसमें कहीं हमें दोषों का त्याग करना होगा, कहीं दुर्बलता की निवृत्ति के लिये तप करना होगा; तभी हम अपने को गुरुपद के प्रेमी कह सकते हैं। जिस प्रकार राजपद, मंत्री पद, सेवक पद, स्वामी का पद होता है उसी प्रकार सर्व पदों के ऊपर सर्वोपरि महान् गुरुपद होता है उस गुरुपद की वन्दना सभी श्रद्धालु करते ही हैं। गुरु के संग से हमें अपने दोषों, दुर्विकारों का दर्शन

होता है और उनकी आज्ञा से उन दोषों, दुर्विकारों का त्याग कर सकते हैं। गुरु के शरीर के प्रति भी श्रद्धा रखना, सेवा करना, मनन करना यह तो अत्यावश्यक शुभ है परन्तु वह शरीर के प्रति ही सीमित रखना भूल है। जब लघु का आश्रय लेकर-लघु पर निर्भर रहकर मानव स्थिर सुख तथा शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता है और उसके परिवर्तन तथा बिनाश को देखकर अनेक बार वियोग, हानि और अपमान से दुःखी हो लेता है, तब किसी गुरु की शरण में जाता है। ज्ञान की कमी से दुःखी होकर ज्ञान की पूर्णता के लिये संशयरहित होकर तथा अभिमान का त्यागकर अपने आपको गुरु के आगे रख देना ही गुरुशरण है। लघु से गुरु होने के लिये ही गुरु शरण की आवश्यकता है। गुरु का प्रेमी लघु का मोही नहीं रह जाता, गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला छोटी-छोटी बातों के पीछे हर्ष और शोक नहीं करता है। सांसारिक-पदार्थ और सुखोपभोग की वस्तु की माँग लघु आज्ञा है, तप, त्याग, प्रेम आदि दैवीगुण की पूर्णता और दोष के नाश की माँग गुरु-आज्ञा है।

जो ज्ञानस्वरूप गुरु की आज्ञा-पालन करते हुए अपने दोषों का नाश करता है तथा सद्गुणों से जीवन सुसज्जित करता है और गुणों को भगवद्गत जानता है वह गुरुमुख है-गुरु का उपासक है। इसके विपरीत गुरु-ज्ञान का अभिमानी होकर गुरु की दया का उपयोग अपने मन की रुचि-पूर्ति में करने वाला मनमुख है। गुरुमुख मानव सत्य का योगी होकर परम शान्ति पाता है, मनमुख मानव सांसारिक सुखों का भोगी होकर अन्त में अशान्त और दुःखी होता है। ज्ञानस्वरूप गुरु का कभी नाश नहीं होता है। जिन नाम-रूप में ज्ञानस्वरूप गुरुतत्व का दर्शन हो, उन्हीं के निकट बैठकर व्यक्तित्व की नहीं, गुरुतत्व की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार गुरु की उपासना करने वाला शोक, मोह और दुःख के बन्धन से मुक्त होकर स्वयं गुरु हो जाता है। गुरु के व्यक्तित्व का उपासक संसार में बद्ध रहता है। श्रद्धायुक्त शुद्ध बुद्धि से गुरु का दर्शन होता है। श्रद्धायुक्त विवेक से गुरु प्रदत्त सम्पत्ति का ग्रहण होता है। श्रद्धायुक्त प्रीति से गुरु-सम्पत्ति की रक्षा होती है। श्रद्धायुक्त त्याग से गुरु के प्रति प्रगाढ़ प्रीति होती है। श्रद्धायुक्त तप-संयम से गुरु के पथ में प्रगति होती है। ...गुरुमन्त्र परमानन्द परमात्मा से संयुक्त करता है। गुरु-भक्ति लघुता की सीमा से—बन्धन से मुक्त कर देती है।

(पृष्ठ १७ का शेष)

"हे यक्ष! जो व्यक्ति अपने देश से बाहर न हो और ऋणी न हो वही प्रसन्न और सुखी है।" एक व्यक्ति जो ऋण से दबा पड़ा हो, उसकी चेतना और स्वाभिमान भी सुप्त हो जाता है, दिन रात चिंतित रहने के कारण वह आरोग्यता से भी हाथ धो बैठता है। ऐसा व्यक्ति स्वप्न में भी उल्लासपूर्ण जीवन का आनन्द नहीं ले सकता। एक दूसरा व्यक्ति है; यद्यपि उसके पास धन दौलत और भौतिक सुख साधनों की कमी नहीं है, किन्तु उसे उसकी 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमि से पृथक् कर दिया गया है, वह बेचारा कैसे प्रसन्न रह सकता है। एक निर्धन व्यक्ति है, जिसे किसी का ऋण नहीं देना है। उसे भाग्यवान ही कहा जायगा, भले ही वह अपने लिये भरपेट भोजन भी न जुटा सकता हो और कभी कभी केवल शाक ही उबालकर खा लेता हो किन्तु अपनी मातृभूमि के अंक में ही वह अपना जीवन व्यतीत कर देता है। क्यों न ऐसा व्यक्ति प्रसन्न रहे। धर्मराज युधिष्ठिर से अपने प्रश्नों का समुचित उत्तर पाकर यक्ष संतुष्ट हृदय से बोला—"राजन्! मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ और तुम्हारे चारों भाइयों को पुनरुज्जीवित करता हूँ।" उसी क्षण चारों पाण्डव चैतन्य होकर उठ बैठे और यक्ष अलक्षित हो गया।

Nationalism in Hindu Culture.

By

P. Brij Nath Sharga, M. A., LL. B.



It is commonly believed that Hinduism in general, and Vedanta in particular, could never foster the feeling of nationalism. The "other-worldliness" of Hinduism could never tolerate attachment to one's native land and its people—a part of this world; nor could the unreality of the world, Vedanta preaches, encourage devotion to one's own community and country—a mirage after all. It is claimed that nationalism is a Western growth, and the British have planted it in India. It is true that nationalism in the Western sense—in its negative aspect—was unknown to Hinduism and alien to Vedanta; nationalism that finds expression in the plunder of weaker people, that revels in the blood of the innocent foreigners, that invents machine of destruction and makes one human being hate another because they live in different parts of the world is nothing but selfishness writ large, the brute in man magnified manifold times, a malady to be cured rather than a noble emotion to be applaudrd. The last World War, the red revolution in Russia, the bloody campaign of Hitlerism in Germany are but ugly exhibitions of Western nationalism. God save India from such nationalism !

Nationalism in its positive sense, nationalism that raises an individual himself, that expands his self so as to coincide with the self of his coun-tarymen, that leads Godwards is inherent in Hinduism; it is a necessary stage on the road to the other world and the Great Beyond. If environ-ments influence a people's thoughts, the vastness of India, and the essen-tial unity underlying the apparent divarsity of Indian reces, creeds, and cultures may well have suggested to the ancient Hindu the idea of an all-pervading Reality, one without a

second, underlying the multiplicity of manifestation, forming the enduring basis of fleeting phenomena.

Nationalism is the feeling of deep love one has for what consitutes the nation, a feeling so intense that one is prepared to sacrifice one's all, life, liberty and property for the nation. This feeling expands the invidual self so as to include the indefinable and almost limitless self. the nation. It raises a man above himself, brings him nearer the Atma. Such a feeling Hinduism and vedanta could not but foster.

Nationalism without the existance of a nation or nationality is not possible. Nation is a word the precise meaning of which is generally not understood. It is sometimes used for a self-governing people *e. g.*, the Germans, sometimes for a people, united only by ethnic and cultural ties, *e. g.*, the Jews, and sometimes for peoples of diverse races inhabiting a coun'ary and having common political aspirations, *e. g.*, the present day Indians. But the term nation is not so vague; it is a political term with a definite meaning; it signifies a nationlity organised in a state & acting spontaneously as a unity. Nationality denotes tha unity of a people brought about by common country and language, common race and culure, common custom and religion, common history and tradition or by some of these factors. In this sense Jews or Indians may be spoken of as a nationality, but not as a nation, for the Jews have no common country and no self-governing state and the Indians though inhabiting a common country are a subject people.

Unless the ancient Hindus had realised the geographical and political unity of India they could not have formed a nation or nationality and there could have been no nationalism. The British claim that they have, for the first time, united India politically and this political unity is responsible for the growth of the sense of geographical unity of India.

(cnntinued)

Supernormal Factors In Human Personality

By B. L. Atreya

Humanity is at present passing throgh a very horrible period of its history, such as perhaps it has never seen before, when all the world over, nations, communities, groups and individuals are in a fighting mood, and have little respect for the rights, feelings and life of others. To me it appears to be a consequence of the materialistic, positivistic, exclusively objective and selfish outlok of the age. Whereas the ancients were mainly interested in and concerned with the nature and destiny of the human soul, we the moderns ared chiefly interested in the things of the world and concerned with our possessions. The tools machines and armaments created by us have come to dominate us. We have tried to control nature and are being controlled by the Nemesis. We have fattened our bodies, but famished our souls; the former, however, to be sacrificed like goats at the altar of the goddess of perpetual and wide-spread strife. In order to save humanity from the threatened destruction, it is, therefore, high time that it should be weaned off the poisonous milk of materialism, which is unfortunately and mainly due to modern man's lack of interest in mind and spirit, wrongly attributed to Science. In the words of Dr. Alexis Carrel, the well-known scientist, "Humanity's attention must turn from the machine and the world of inanimate matter to the body and the soul of man." (Man the Unknown. p. 14.) "Our curiosity must turn aside from its present path and take another direction. It must leave the physical and the physiological in order to follow the mental and the spiritual." It would be far better to pay more attention to our-selves than to construct faster steamers, more comfortable automobiles, cheaper radios, or telescopes." (Ibid., p. 51.) Once more, therefore we have to raise the slogan, 'Man, know thyself,' "*Atma va are drishtavyah,*" in the words of one of the Upanishads.

But, where shall we go for the knowledge of ourselves ? It is certainly difficult for persons trained in and accustomed to scientific way of thinking to have faith in the dogmas of a religion or to accept the a priori conclusion of a philosophy. What he actually needs is inductive conclusions drawn from actual facts and phenomena, carefully observed and experimented upon with all the pre-

cautions known to science. So, naturally he turns his attention to the text-books of Psychology–professedly the science of the soul–for a light on the nature and destiny of the "psyche" Here, however, he is bound to get bewildered, dissatisfied and disappointed. Psychologists do not even agree as to what the subject matter of their science is in what manner they have to approach it, and what methods of collecting data they have to follow. Most of them have a materialistic bias and start with mechanistic presumptions. Most of them regard mental life as a mere function of the brain and the nervous system and avoid all reference to any non-material, non-mechanical and spiritual agency, like a soul or mind in trying to understand it. Some of them, the behaviourists, have gone even so far as to deny that consciousness, thought and feelings, etc. are to be studied by psychology which should confine itself to the study of the observable explicit and implicit reactions (called behaviour) of the total organism and to the stimulating factors or situations in the social and natural environment For them, the human personality is nothing but "an individual's total assets (actu and potential and liabilities (actu and potential) on the reaction side (Watson : Psychology p. 427.) It the "reactlon-mass" as a whole (Ibid, p. 450.) We remain in tota darkness as to who reacts. Psycho analysis, which is not yet officiall recognised as scientific psychology has certainly gone a litle deeper in t the nature of personality than othe schools have been able to do, but it account of the human psyche is als unsatisfactory simply because it conclusions are mainly based on th observations of the mentally diseased and, therefore, often inapplicable t other types of mentality. This schoo of psychology, which is still calle pseudo psychology by some, has onl been able to tap that stratum of hama personality which it calls the uncons cious. But from the fact that ther are many things that happen i human life which are inexplicable i terms of all the schools of psychology including the peychoanalytic ones, a we shall show later on, it appears tha there is much in human personalit that is not yet known to moder psychology and that has yet to b brought into the fild of recognition.

(Continued

आश्रम समाचार

दि० २ जुलाई ६१ का रविवारीय सत्संग परमाध्यक्ष स्वामी श्री गोविन्दप्रकाश जी 'वेदान्ताचार्य' के तत्वावधान में आश्रम पर सम्पन्न हुआ। जिसमें महामण्डलेश्वर पवाहारी श्री १०८ स्वामी बालकृष्ण यति जी महाराज 'वेदान्ताचार्य', स्वामी श्री वासुदेवानन्द जी 'व्याकरणाचार्य' प्रभृति के प्रवचन हुए। अन्त में परमाध्यक्ष जी का सुमनोहर प्रवचन हुआ। परमाध्यक्ष जी दि० ६ को हरिद्वार पधारे और वहाँ से दि० १५ को आश्रम में आये तथा दि० २७ जुलाई गुरुपूर्णिमा तक आश्रम में निवास किये। आश्रम में गुरुपूर्णिमा महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया। रामप्रेमियों ने अधिक संख्या में पहुँच कर रामदरबार के प्रति गुरुभक्ति का श्रद्धा-प्रेम से ओत-प्रोत परिचय दिया। परमाध्यक्ष जी ने दि० २८ की शाम को हरिद्वार होते हुए ग्वालियर के लिये प्रस्थान किया एवं ग्वालियर पहुँचकर वहाँ के महाराजा सिन्धिया जी के साकेतवास हो जाने के कारण शोकाकुल महारानी सिन्धिया जी एवं आयुष्मान राजकुमार तथा उनके परिजनों को अपने सदुपदेश द्वारा धैर्य बँधाया। ग्वालियर से परमाध्यक्ष जी शीघ्र ही आश्रम में आकर तदुपरान्त वृन्दावन जायेंगे।

ग्राहकों से निवेदन !

१—जिन ग्राहकों ने ४) रामसन्देश का वार्षिक चन्दा अभी तक नहीं भेजा वे शीघ्र ही भेजने का कष्ट करें।

२—पत्र व्यवहार की सुविधा के लिये अपने रामसन्देश के रैपर से अपना ग्राहक नम्बर नोट कर लें क्योंकि चालू वर्ष में सभी ग्राहकों के ग्राहक नम्बर बदल दिये गये हैं।

३—रामसन्देश सन् ६० पूरे वर्ष का सेट जिल्द सहित रामसन्देश कार्यालय से वी०पी० द्वारा प्राप्त हो सकता है। मूल्य केवल ५ रु०। वी० पी० व्यय अलग।

—स० सम्पादक



नोट—सम्मेलन, आश्रम सम्बन्धी भेंट की नामावलि सितम्बर अंक के साथ प्रकाशित होगी।

—: शोक समाचार :—

भारत के चमकते सूर्य हिज हाईनेस ग्वालियर के महाराजा श्रीमान् जीवाजीराव सिन्धिया जी का दि० १६ जुलाई १६६१ को रात्रि ११ बजकर ४० मिनट पर बम्बई में उनके निवास स्थान पर असामयिक स्वर्गवास हो गया। उनकी अवस्था अभी केवल ४५ वर्ष की थी। उनके मृत शरीर को विशेष वायुयान द्वारा दाह-संस्कार के लिये ग्वालियर ले जाया गया। महाराजा साहब मध्यप्रदेश के मध्यभारत में सन् १६५६ में विलय होने से पूर्व राज प्रमुख रहे। वे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के प्रथम कुलपति भी रहे। आपका इतना बड़ा त्याग रहा कि रियासतों के राज्य सरकार में विलीनीकरण होने पर प्रथम आपने ही अपना राज्य और कोष स्वराष्ट्र मंत्री स्वर्गीय सरदार पटेल के हाथों में न्योछावर किया था। आप बड़े देशहितैषी, धर्मात्मा और सत्संगप्रिय रहे। जनता आपको हृदय से चाहती थी, क्योंकि आपकी राज्य-शासन व्यवस्था सुचारु रही। गरीब-अमीर सबके प्रति उचित न्याय का शासन करते रहे और जनता की पुकार को निजी सन्तान की तरह सुनते थे। रामदरबार आपके आकस्मिक, असामयिक, अल्पायु निधन पर अत्यन्त खेद प्रकट करता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि दिवंगत आत्मा को परमशान्ति लाभ हो तथा हरहाईनेस महारानी सिंधिया जी श्रीमती विजयाराजे एवं आयुष्मान् राजकुमार श्री माधवराव सिंधिया जी तथा उनके परिजनों को इस अपार दुःख के सहन करने की शक्ति प्रदान करें। जिससे महारानी सिन्धिया जी जनता के हितों को पूर्ववत् सम्पन्न कर सकें और चि० राजकुमार अपने स्वर्गीय पिता के चरण-चिह्नों पर चलते हुए सुख-शान्ति के भागी बनें।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

Printed and Published by Swami Govind Prakash, at the S. S. Press, Rajpur-Dehra Dun
for the Rama Tirtha Mission, Rajpur-Dehra Dun (U. P.)